डाउनलोड मुद्रण

अ+ अ-

निबंध

ठेले पर हिमालय

धर्मवीर भारती

ठेले पर हिमालय' - खासा दिलचस्प शीर्षक है न। और यकीन कीजिए, इसे बिलकुल ढूँढ़ना नहीं पड़ा। बैठे-बिठाए मिल गया। अभी कल की बात है, एक पान की दूकान पर मैं अपने एक गुरुजन उपन्यासकार मित्र के साथ खड़ा था कि ठेले पर बर्फ की सिलें लादे हुए बर्फ वाला आया। ठण्डे, चिकने चमकते बर्फ से भाप उड़ रही थी। मेरे मित्र का जन्म स्थान अल्मोड़ा है, वे क्षण-भर उस बर्फ को देखते रहे, उठती हुई भाप में खोए रहे और खोए-खोए से ही बोले, 'यही बर्फ तो हिमालय की शोभा है।' और तत्काल शीर्षक मेरे मन में कौंध गया, 'ठेले पर हिमालय'। पर आपको इसलिए बता रहा हूँ कि अगर आप नए कवि हों तो भाई, इसे ले जाएँ और इस शीर्षक पर दो तीन सौ पंक्तियाँ, बेडौल, बेतुकी लिख डालें शीर्षक मौजूँ है, और अगर नई कविता से नाराज हों, सुललित गीतकार हों तो भी गुंजाइश है, इस बर्फ को डाटे, उतर आओ। ऊँचे शिखर पर बन्दरों की तरह क्यों चढ़े बैठे हो? ओ नए कवियो। ठेले पर लदो। पान की दूकानों पर बिको। [1]

ये तमाम बातें उसी समय मेरे मन में आईं और मैंने अपने गुरुजन मित्र को बताईं भी। वे हँसे भी, पर मुझे लगा कि वह मुझे लगा कि वह बर्फ कहीं उनके मन को खरोंच गई है और ईमान की बात यह है कि जिसने 50 मील दूर से भी बादलों के बीच नीले आकाश में हिमालय की शिखर रेखा को चाँद तारों से बात करते देखा है, चाँदनी में उजली बर्फ को धुँधली हलके नीले जाल में दूधिया समुद्र की तरह मचलते और जगमगाते देखा है, उसके मन पर हिमालय की बर्फ एक ऐसी खरोंच छोड़ जाती है जो हर बार याद आने पर पिरा उठती है। मैं जानता हूँ, क्योंकि वह बर्फ मैंने भी देखी है।

सच तो यह है कि सिर्फ बर्फ को बहुत निकट से देख पाने के लिए ही हम लोग कौसानी गए थे। नैनीताल से रानीखेत और रानीखेत से मझकाली के भयानक मोड़ों को पार करते हुए कोसी। कोसी से एक सड़क अल्मोड़े चली जाती है, दूसरी कौसानी। कितना कष्टप्रद, कितना सूखा और कितना कुरुप है वह रास्ता। पानी का कहीं नाम निशान नहीं, सूखे भूरे पहाड़, हरियाली का नाम नहीं। ढालों को काटकर बनाये हुए टेढ़े मेढ़े रास्ते पर अल्मोड़े का एक नौसिखिया और लापरवाह ड्राइबर जिसने बस के तमाम मुसाफिरों की ऐसी हालत कर दी कि जब हम कोसी पहुँचे तो सभी के चेहरे पीले पड़ चुके थे। कौसानी जाने वाले सिर्फ हम दो थे, वहाँ उतर गए। बस अल्मोड़े चली गई। सामने के एक टीन के शेड में काठ की बेंच पर बैठकर हम वक्त काटते रहे। तबीयत सुस्त थी और मौसम में उमस थी। दो घंटे बाद दूसरी लारी आकर रुकी और जब उसमें से प्रसन्न बदन शुक्ल जी को उतरते देखा तो हम लोगों की जान में जान आई। शुक्ल जी जैसा सफर का साथी पिछले जन्म के पुण्यों से ही मिलता है। उन्होंने हमें

कौसानी आने का उत्साह दिलाया था। और खुद तो कभी उनके चेहरे पर थकान या सुस्ती दीखी ही नहीं, पर उन्हें देखते ही हमारी भी सारी थकान काफूर हो जाया करती थी।

पर शुक्ल जी के साथ यह नई मूर्ति कौन है? लंबा दुबला शरीर, पतला साँवला चेहरा, एमिल जोला सी दाढ़ी, ढीला ढाला पतलून, कंधे पर पड़ी हुई ऊनी जर्किन, बगल में लटकता हुआ जाने थर्मस या कैमरा या बाइनाकुलर। और खासी अटपटी चाल थी। बाबूसाहब की। यह पतला दुबला मुझ जैसा ही सींकिया शरीर और उस पर आपका झूमते हुए आना। मेरे चेहरे पर निरंतर घनी होती हुई उत्सुकता को ताड़कर शुक्ल जी ने कहा - "हमारे शहर के मशहूर चित्रकार हैं सेन, अकादमी से इनकी कृतियों पर पुरस्कार मिला है। उसी रुपए से घूमकर छुट्टियाँ बिता रहे हैं।" थोड़ी ही देर में हम लोगों के साथ सेन घुल मिल गया, कितना मीठा था हृदय से वह। वैसे उसके करतब आगे चलकर देखने में आए।

कोसी से बस चली तो रास्ते का सारा दृश्य बदल गया। सुडौल पत्थरों पर कल-कल करती हुई कोसी, किनारे के छोटे-छोटे सुंदर गाँव और हरे मखमली खेत। कितनी सुंदर है सोमेश्वर की घाटी। हरी भरी। एक के बाद एक बस स्टेशन पड़ते थे, छोटे-छोटे पहाड़ी डाकखाने, चाय की दूकाने और कभी-कभी कोसी या उसमें गिरने वाले नदी नालों पर बने हुए पुल। कहीं-कहीं सड़क निर्जन चीड़ के जंगलों से गुजरती थी। टेढ़ी-मेढ़ी, ऊपर नीचे रेंगती हुई कँकरीली पीठ वाले अजगर सी सड़क पर धीरे-धीरे बस चली जा रही थी। रास्ता सुहावना था और उस थकावट के बाद उसका सुहावनापन हमें भी तंद्रालस बना रहा था। पर ज्यों-ज्यों बस आगे बढ़ रही थी, हमारे मन में एक अजीब सी निराशा छाती जा रही थी अब तो हम लोग कौसानी के नजदीक हैं, कोसी से 18 मील चले आए, कौसानी सिर्फ छह मील है, पर कहाँ गया वह अतुलित सौंदर्य, वह जादू जो कौसानी के बारे में सुना जाता था। आते समय मेरे एक सहयोगी ने कहा था कि कश्मीर के मुकाबले में उन्हें कौसानी ने अधिक मोहा है, गाँधी जी ने यहीं अनासक्ति योग लिखा था और कहा था कि स्विट्रजरलैंड का आभास कौसानी में ही होता है। ये नदी, घाटी, खेत, गाँव सुंदर हैं किंतु इतनी प्रशंसा के योग्य तो नहीं ही हैं। हम कभी-कभी अपना संशय शुक्ल जी से व्यक्त भी करने लगे और ज्यों-ज्यों कौसानी नजदीक आता गया त्यों-त्यों अधैर्य, फिर असंतोष और अंत में तो क्षोभ हमारे चेहरे पर, झलक आया। शुक्ल जी की क्या प्रतिक्रिया थी हमारी इन भावनाओं पर, यह स्पष्ट नहीं हो पाया क्योंकि वे बिलकुल चुप थे। सहसा बस ने एक बहुत लंबा मोड़ लिया और ढाल पर चढ़ने लगी।

सोमेश्वर की घाटी के उत्तर में जो ऊँची पर्वतमाला है, उस पर, बिलकुल शिखर पर, कौसानी बसा हुआ है। कौसानी से दूसरी ओर फिर ढाल शुरू हो जाती है। कौसनी के अड्डे पर जाकर बस रुकी। छोटा-सा, बिलकुल उजड़ा-सा गाँव और बर्फ का तो कहीं नाम निशान नहीं। बिलकुल ठगे गए हम लोग। कितना खिन्न था मैं। अनखाते हुए बस से उतरा कि जहाँ था वहीं पत्थर की मूर्ति सा स्तब्ध खड़ा रहा गया। कितना अपार सौंदर्य बिखरा था सामने की घाटी में। इस कौसानी की पर्वतमाला ने अपने अंचल में यह जो कल्यूर की रंग बिरंगी घाटी छिपा रही है, इसमें किन्नर और यक्ष ही तो वास करते होंगे। पचासों मील चौड़ी यह घाटी, हरे मखमली कालीनों जैसे खेत, सुंदर गेरू की शिलाएँ काटकर बने हुए लाल-लाल रास्ते, जिनके किनारे सफेद-सफेद पत्थरों की कतार और इधर उधर से आकर आपस में उलझा जाने वाली बेले की लड़ियाँ सी नदियाँ। मन में बेसाख्ता यही आया कि इन बेलों की लड़ियों को उठाकर कलाई में लपेट लूँख, आँखों से लगा लूँ। अकस्मात हम एक दूसरे लोक में चले आए थे। इतना सुकुमार, इतना सुंदर, इतना सजा हुआ और इतना निष्कलंक कि लगा इस धरती पर तो जूते उतारकर, पाँव पोंछकर आगे बढ़ना चाहिए। धीरे धीरे मेरी निगाहों ने इस घाटी को पार किया और जहाँ ये हरे खेत और नदियाँ और वन,

क्षितिज के धुँधलेपन में, नीले कोहरे में धुल जाते थे, वहाँ पर कुछ छोटे पर्वतों का आभास अनुभव किया, उसके बाद बादल थे और फिर कुछ नहीं। कुछ देर उन बादलों में निगाह भटकती रही कि अकस्मात फिर एक हलका सा विस्मय का धक्का मन को लगा। इन धीरे-धीरे खिसकते हुए बादलों में यह कौन चीज है जो अटल है। यह छोटा-सा बादल के टुकड़े-सा-और कैसा अजब रंग है इसका, न सफेद, न रुपहला, न हलका नीला... पर तीनों का आभास देता हुआ। यह है क्या? बर्फ तो नहीं है। हाँ जी। बर्फ नहीं है तो क्या है अकस्मात बिजली सा यह विचार मन में कौंधा कि इसी घाटी के पार वह नगाधिराज, पर्वतसम्राट हिमालय है, इन बादलों ने उसे ढाँक रखा है, वैसे वह क्या सामने है, उसका एक कोई छोटा-सा बाल स्वभाव वाला शिखर बादलों की खिड़की से झाँक रहा है। मैं हर्षातिरेक से चीख उठा, "बरफ। वह देखों।" शुक्ल जी, सेन, सभी ने देखा, पर अकस्मात वह फिर लुप्त हो गया। लगा, उसे बाल-शिखर जान किसी ने अंदर खींच लिया। खिड़की से झाँक रहा है, कहीं गिर न पड़े।

पर उस एक क्षण के हिम दर्शन ने हममें जाने क्या भर दिया था। सारी खिन्नता, निराशा, थकावट सब छू मंतर हो गई। हम सब आकुल हो उठे। अभी ये बादल छँट जाएँगे और फिर हिमालय हमारे सामने खड़ा होगा-निरावृत्त... असीम सौंदर्यराशि हमारे सामने अभी-अभी अपना घूँघट धीरे से खिसका देगी और..और तब? और तब? सचमुच मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। शुक्ल जी शांत थे, केवल मेरी ओर देखकर कभी-कभी मुस्करा देते थे, जिसका अभिप्राय था, 'इतने अधीर थे, कौसानी आया भी नहीं और मुँह लटका लिया। अब समझे यहाँ का जादू?" डाक बँगले के खानसामे ने बताया कि, "आप लोग बड़े खुशकिस्मत हैं साहब। 14 टूरिस्ट आकर हफ्ते भर पड़ रहे, बर्फ नहीं दीखी। आज तो आपके आते ही आसार खुलने के हो रहे हैं।"

सामान रख दिया गया। पर, सभी बिना चाय पिए सामने के बरामदे में बैठे रहे और एकटक सामने देखते रहे। बादल धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे और एक-एक कर नए-नए शिखरों की हिम-रेखाएँ अनावृत हो रही थीं। और फिर सब खुल गया। बाईं ओर से शुरू होकर दाईं ओर गहरे शून्य में धँसती जाती हुई हिमशिखरों की ऊबड़-खाबड़, रहस्यमयी, रोमांचक श्रृंखला। हमारे मन में उस समय क्या भावनाएँ उठ रही थीं यह अगर बता पाता तो यह खरोंच, यह पीर ही क्यों रह गई होती। सिर्फ एक धुँधला सा संवेदन इसका अवश्य था कि जैसे बर्फ की सिल के सामने खड़े होने पर मुँह पर ठंडी-ठंडी भाप लगती है, वैसे ही हिमालय की शीतलता माथे को छू रही है और सारे संघर्ष, सारे अंतर्द्वंद्व, सारे ताप जैसे नष्ट हो रहे हैं। क्यों पुराने साधकों ने दैहिक, दैविक और भौतिक कष्टों को ताप कहा था और उसे शमित करने के लिए वे क्यों हिमालय जाते थे यह पहली बार मेरी समझ में आ रहा था। और अकस्मात एक दूसरा तथ्य मेरे मन के क्षितिज पर उदित हुआ। कितनी कितनी पुरानी है यह हिमराशि। जाने किस आदिम काल से यह शाश्वत अविनाशी हिम इन शिखरों पर जमा हुआ है। कुछ विदेशियों ने इसीलिए हिमालय की इस बर्फ को कहा है-चिरन्तन हिम (एटर्नल स्नो)। सूरज ढल रहा था और सुदूर शिखरों पर दर्रे, ग्लेशियर, ढाल, घाटियों का क्षीण आभास मिलने लगा था। आतंकित मन से मैंने यह सोचा था कि पता नहीं इन पर कभी मनुष्य का चरण पड़ा भी है या नहीं या अनन्त काल से इन सूने बर्फ ढँके दर्रों में सिर्फ बर्फ के अंधड़ हू-हूँ करते हुए बहते रहे हैं।

सूरज डूबने लगा और धीरे-धीरे ग्लेशियरों में पिघली केसर बहने लगी। बर्फ कमल के लाल फूलों में बदलने लगी, घाटियाँ गहरी पीली हो गईं। अँधेरा होने लगा तो हम उठे और मुँह-हाथ धोने और चाय पीने में लगे। पर सब चुपचाप थे, गुमसुम, जैसे सबका कुछ छिन गया हो, या शायद सबको कुछ ऐसा मिल गया हो जिसे अंदर ही अंदर सहेजने में सब आत्मलीन हों या अपने में डूब गए हों। थोड़ी देर में चाँद निकला और हम फिर बाहर निकले... इस

बार सब शांत था। जैसे हिम सो रहा हो। मैं थोड़ा अलग आरामकुर्सी खींचकर बैठ गया। यह मेरा मन इतना कल्पनाहीन क्यों हो गया है? इसी हिमालय को देखकर किसने किसने क्या-क्या नहीं लिखा और यह मेरा मन है कि एक कविता तो दूर, एक पंक्ति, एक शब्द भी तो नहीं जानता। पर कुछ नहीं, यह सब कितना छोटा लग रहा है इस हिमसम्राट के समक्ष। पर धीरे-धीरे लगा कि मन के अंदर भी बादल थे जो छँट रहे हैं। कुछ ऐसा उभर रहा है जो इन शिखरों की ही प्रकृति का है जो इसी ऊँचाई पर उठने की चेष्टा कर रहा है ताकि इनसे इन्हीं के स्तर पर मिल सके। लगा, यह हिमालय बड़े भाई की तरह ऊपर चढ़ गया है, और मुझे-छोटे भाई को-नीचे खड़ा हुआ, कुंठित और लज्जित देखकर थोड़ा उत्साहित भी कर रहा है, स्नेह भरी चुनौती भी दे रहा है - "हिम्मत है? ऊँचे उठोगे?"

और सहसा सन्नाटा तोड़कर सेन रवींद्र की कोई पंक्ति गा उठा और जैसे तंद्रा टूट गई। और हम सक्रिय हो उठे- अदम्य शक्ति, उल्लास, आनंद जैसे हम में छलक पड़ रहा था। सबसे अधिक खुश या सेन, बच्चों की तरह चंचल, चिड़ियों की तरह चहकता हुआ बोला, "भाई साहब, हम तो बण्डरस्ट्रक हैं कि यह भगवान का क्या-क्या करतूत इस हिमालय में होता है।" इस पर हमारी हँसी मुश्किल से ठंडी हो पाई थी कि अकस्मात वह शीर्षासन करने लगा। पूछा गया तो बोला, 'हम नए पर्सपेक्टिव से हिमालय देखेगा।" बाद में मालूम हुआ कि वह बंबई की अत्याधुनिक चित्रशैली से थोड़ा नाराज है और कहने लगा, "ओ सब जीनियस लोग शीर का बल खड़ा होकर दुनिया को देखता है। इसी से हम भी शीर का बल हिमालय देखता है।"

दूसरे दिन घाटी में उतरकर 12 मील चलकर हम बैजनाथ पहुँचे जहाँ गोमती बहती है। गोमती की उज्जवल जलराशि में हिमालय की बर्फीली चोटियों की छाया तैर रही थी। पता नहीं, उन शिखरों पर कब पहुँचूँ, पर उस जल में तैरते हुए हिमालय से जी भरकर भेंटा, उसमें डूबा रहा।

आज भी उसकी याद आती है तो मन पिरा उठता है। कल ठेले के बर्फ को देखकर वे मेरे मित्र उपन्यासकार जिस तरह स्मृतियों में डूब गए उस दर्द को समझता का ही बहाना है। वे बर्फ की ऊँचाईयाँ बार-बार बुलाती हैं, और हम हैं कि चौराहों पर खड़े, ठेले पर लदकर निकलने वाली बर्फ को ही देखकर मन बहला लेते हैं। किसी ऐसे ही क्षण में, ऐसे ही ठेलों पर लदे हिमालयों से घिरकर ही तो तुलसी ने नहीं कहा था " ...कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो... मैं क्या कभी ऐसे भी रह सकूँगा वास्तविक हिमशिखरों की ऊँचाइयों पर?" और तब मन में आता है कि फिर हिमालय को किसी के हाथ संदेशा भेज दूँ... "नहीं बंधु... आऊँगा। मैं फिर लौट-लौट कर वहीं आऊँगा। उन्हीं ऊँचाइयों पर तो मेरा आवास है। वहीं मन रमता है... मैं करूँ तो क्या करूँ?"

शीर्ष पर जाएँ